स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।

श्रीमद्भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्माको आनन्द प्रदायक। सब धर्मोंका श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर। भक्ति अधोक्षजकी अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥ किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यर्थ सभी केवल बंधनकर ॥

वर्ष १८ | गौराब्द ४८६, मास—गोविन्द २५, वार-अनिरुद्ध, बुधवार, ३० फाल्गुन, सम्वत् २०२९, १४ मार्च, १९७३ | संख्या १०

मार्च १९७३

श्रीमद्भागवतीय श्रीकृष्णस्तोत्राणि

श्रीश्रीश्रुतिगणकृतं श्रीकृष्णस्तोत्रम्

(श्रीमद्भागवत १०।८७।२८-३४)

श्रुतियोंने कहा——

त्वमकरणः स्वराड़खिलकारकशक्तिधरस्तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषाः ।
वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥ २८ ॥

हे प्रभो ! आप प्राकृत इन्द्रियोंके सम्बन्धसे रहित स्वतन्त्र ईश्वर होकर भी समस्त प्राणियों की सभी इन्द्रिय शक्तियोंकी परिचालना किया करते हैं। खण्ड राज्यके अधिपति लोग जिस प्रकार महामण्डलेश्वरको उपहार प्रदान किया करते हैं एवं स्वयं अपनी अपनी प्रजाओं द्वारा दिये गये उपहार भोग करते हैं, उसी प्रकार अविद्याके साथ समस्त देवता विश्वकर्त्ता आपके उद्देश्यसे पूजोपहार

धारण कर स्वयं मनुष्य प्रदत्त हव्य-गव्य आदि उपहार भोग करते हैं एवं स्वयं ही भीत होकर प्रत्येक ही अपने अपने अधिकारके योग्य कर्म सम्पादन कर रहे हैं ॥ २८ ॥

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।
नहि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च भवेद् वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ॥२९॥

हे नित्यमुक्त (मायासंगरहित) ! आपकी दृष्टि-लेशमात्र द्वारा जब आपकी मायाके साथ क्रीड़ा हुआ करती है, तब कर्मरूप निमित्त हेतुके साथ चराचरात्मक जीवसमूहका आविर्भाव होता है। आप परम कारुणिक आकाशके समान सर्वत्र समभावसे अवस्थित होने के कारण आकाशोपम हैं एवं उसके समान निर्लेप होनेके कारण वैषम्यसे रहित हैं। अतएव आपका आत्मीय या पर कोई नहीं है ॥ २९ ॥

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।
अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत् समगनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥३०॥

हे नित्यस्वरूप ! अनन्त जीव यदि स्वरूपसे (आपसे उत्पन्न न होकर) नित्य एवं सर्वगत हों, तो वे आपके द्वारा शासित अर्थात् नियंत्रित नहीं होसकते। अन्यथा(आपसे उत्पन्न होनेपर) शासन एवं नियमन संभव हो सकता है। जीव आदि आग स्वरूप आपसे विस्फुलिंग [अग्निकण] रूपसे उत्पन्न होनेके कारण आप ही उनके अपरित्याज्य कारण हैं, नियन्ता हैं एवं सर्वत्र अन्तर्यामी रूपसे समभावसे अवस्थित हैं। मत-दुष्टताके कारण जो व्यक्ति आपको जाननेका अभिमान करते हैं, वे यथार्थ रूपसे ही अज्ञानी हैं ॥ ३० ॥

न घटत उद्भवः प्रकृति-पूरुषयोरजयोरुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः ॥३१॥

[परमात्मासे ही जीवोंका जन्म होता है, यदि ऐसा नियन्तृ-नियम्य भाव कहा जाय, तो जीवोंके अनित्यत्व प्रसग द्वारा उनका प्रतिदिन कृतहानि-अकृताभ्यागम--प्रसग [किए गये कर्मोंका नाश एवं न किये गये कर्मोंकी प्राप्ति होनेकी बात] हो जाता है। अतएव यह युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि स्व-प्रकाशानन्दात्म जीवोंकी अविद्याद्वारा घटित अनर्थोंकी निवृत्ति मात्र ही उनकी मोक्ष--प्राप्ति है एवं उपाधिके जन्म द्वारा ही उनका जन्म होता है, किन्तु अपने आप नहीं। इसलिए कहते हैं—प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही जन्म रूप विकार रहित होनेके कारण वे जीव रूपमें उत्पन्न नहीं हो सकते। परन्तु केवल जल या वायु द्वारा जिस प्रकार बुद्बुदकी सृष्टि नहीं होती, किन्तु दोनोंके मिलनसे वह उत्पन्न होता है, उसी प्रकार प्रकृति एवं पुरुष दोनोंके परस्पर संयोगसे [प्रकृतिमें पुरुषके ईक्षण--प्रभावसे] प्राणियोंकी सृष्टि हुआ करती है। अतएव जिस कारणसे जीवोंका जन्म वास्तव नहीं है, इसलिए सुषुप्ति एवं प्रलयकालमें वे जिस प्रकार मधुमें सभी प्रकारके पुष्पोंके रस पृथक पृथक रूपसे नहीं देखे जानेपर भी सामान्य रूपसे परिलक्षितावस्थामें लीन होते हैं, उसी प्रकार कारणात्मरूपी आपमें लीन हो जाते हैं, (उस समय उनकी कार्योपाधि मात्रका लय होता है), मुक्तिकालमें

कारणात्माका भी लय होनेके कारण समुद्रमें नदियाँ मिलनेकी तरह निरुपाधिक आपमें वे सब प्रकारसे लीन होते हैं ॥ ३१ ॥

नृषु तव मायया भ्रममभीष्ववगत्य भृशं त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम् ।
कथमनुवर्त्तितां भवभयं तव यद्भ्रूकुटिः सृजति मुहुस्त्रिनेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥३२॥

विवेकी व्यक्ति इन जीवोंमें उत्तरोत्तर जन्मग्रहणके कारणस्वरूप एवं आपकी मायाके प्रभावके कारण भ्रमदर्शन कर संसार--निवारक आपके प्रति चित्तकी अनुवृत्ति अवलम्बन किया करते हैं। शीत, ग्रीष्म, वर्षा रूप तीन परिच्छेद युक्त आपके भ्रूभंगरूप संवत्सरात्मक काल आपके अनाश्रित व्यक्तियोंके लिए ही जन्म-मरणरूप भयका उत्पादन करता है, परन्तु आपके शरणागत व्यक्तियोंके लिए संसारका भय सम्भवपर नहीं होता ॥ ३२ ॥

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधारा जलधौ ॥३६॥

हे अज ! जिन व्यक्तियोंने इन्द्रियों एव प्राणोंको जय कर लिया है, उनके लिए भी जिसका दमन संभवपर नहीं है, वही मनरूपी घोड़ेको जो व्यक्ति गुरुचरणाश्रय किये बिना संयत करनेकी चेष्टा करते हैं, वे अपने उपाय–विषयमें असफल होते हैं एवं सैकड़ों विघ्नोंद्वारा आकुल होकर समुद्रके बीचमें कर्णधार न ग्रहण करनेवाले वणिक्की तरह इस संसार समुद्रमें केवलमात्र दुःख ही भोग किया करते हैं ॥ ३३ ॥

स्वजनसुतात्मदारधनधामधरासुरयैस्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां सुखयति को न्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥३४॥

हे प्रभो ! शरणदाता, परमानन्दमय, परमात्मारूपी आपके वर्त्तमान रहने पर स्वजन, सुत, देह, स्त्री, धन, गृह, भूमि, प्राण एव यानादिकी कोई आवश्यकता नहीं है— इस परमार्थ–तत्त्वके विषयमें अनभिज्ञ, अतएव मैथुनरतिरूप मायासुखमें मदमत्त मानवोंको स्वभावसे ही विनश्वर एव गत-सार संसारमें किसी भी प्रकारसे आनन्द-दान वे विषय नहीं कर सकते अर्थात् वे मनुष्य किसी भी प्रकारसे आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते ॥ ३४ ॥

(क्रमशः)

वास्तव वस्तुका ज्ञान

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

हमने वास्तव और अवास्तव वस्तु का विचार आरम्भ किया था। वस्तु का धर्म वास्तव है। 'वस' धातुमें अस्त्यर्थमें 'तुन्' प्रत्यय कर 'वस्तु' शब्द निष्पन्न होता है। जो चीज अपनेको रख सकती है, आत्म-संरक्षण कर सकती है, जो कालक्षोभ्य नहीं है, वही वस्तु है। यद्यपि वस्तु शक्तिसे वस्तु ज्ञान प्राप्त करते हैं, तथापि दोनोंका पार्थक्य है। 'वस्तु शक्ति' और वस्तु एक नहीं हैं। पुनः 'वस्तु' से वस्तु शक्ति पृथक् भी नहीं है, युगपत् भेद और अभेद है।

इस जगत की वस्तुके साथ-साथ शक्ति लुप्त होती है। वेदान्तके छठे पादमें 'उत्पत्त्य-संभवाधिकरण'में एक विचार कहा है—केवल शक्ति द्वारा कार्य नहीं होता, वस्तुकी आवश्यकता है। उदाहरण—श्रीमन्मध्वाचार्यके विचारसे स्त्रीजातिकी पुरुषके संयोगसे संतान-उत्पत्ति होती है। दो स्त्रीके संयोगसे सन्तान-उत्पत्ति होती। दो स्त्रीके संयोगसे या केवल शक्तिद्वारा सन्तानकी उत्पत्ति नहीं होती। इस जगतमें भी ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता कि केवल शक्ति द्वारा कोई फलोत्पत्ति हुई है। वस्तुमें शक्ति वर्तमान है। शक्ति एक स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। जिसमें शक्ति है, वही चीज ही वस्तु है। वस्तु अनेक नहीं है, केवल शक्ति विविध है। श्वेताश्वतरमें भी कहा गया है—

न तस्य कार्यं करणंच विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

ज्ञान, बल और क्रिया— ये तीन प्रकार की शक्तियाँ वस्तुमें हैं। पृथिवीसे जो वस्तु देखते हैं, वह चीज हममें चेतन धर्म रहने के कारण किसी समय अस्तित्व संरक्षण करती है एवं किसी समय अस्तित्व का संरक्षण नहीं कर पाती, यह देखा जाता है। वस्तु एक है, शक्ति बहुत प्रकार की। जहाँ अनेकत्व की 'वस्तु' के रूपमें प्रतीति हो, वहाँ केवल शक्ति द्वारा देखा जाता है। किसी एक ही शक्तिके परिचयसे यदि वस्तुको देखा जाय एवं अन्यान्य शक्तियों का यदि परिहार किया जाय, तो वस्तु का अखण्डत्व दर्शन नहीं होता। वस्तु परिच्छिन्न हो जाने पर वस्तुका अंश विच्छिन्न हो गया। उसे वस्तु कहनेसे वस्तुका आंशिक भाव प्रकाशित होता है।

अद्वय-ज्ञान तत्त्व व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन ।

अद्वयज्ञान वस्तु है। जो चीज खण्ड प्रकृति का कारण है, उस चीजको शुद्ध वस्तु कहा नहीं जा सकता।

वास्तव वस्तु नित्यकाल पूर्णता की रक्षा करती है। विभिन्न संकल्पमें एक धर्म न रहकर बहुत से धर्म प्रबल हैं। तबइस प्रकारके संकल्प द्वारा दूसरी वस्तु का दर्शन होता है अर्थात् कुछ शक्तियाँ यहाँ देखी जाती हैं, और कुछ दूसरे स्थानमें देखी जाती हैं। उस-उस शक्ति को देखकर हम वस्तुकी विभिन्नता कहते हैं।

बालक को समझाने के लिए जिस शक्ति की आवश्यकता है, उससे बुढ़ेको समझाने के लिए पृथक् शक्तिकी आवश्यकता है। वस्तु जहाँ परिच्छिन्न भग्न या विभक्त होनेकी बात कही जाती है, वहाँ वस्तु खण्ड-शक्तिके परिचयसे परिचित है। जहाँ वस्तु का आवरण हुआ है, वहाँ शक्तिका विवेक उसके ऊपर आश्रय करनेके कारण वह वस्तुका एकत्व-दर्शन नष्ट करता है, वस्तु कहनेसे जो समझा जाय, उसकी पूर्णताकी भी रक्षा नहीं होती। इसलिए पूर्णताके अभावको हम 'अवस्तु' कहते हैं। पूर्णवस्तुके सम्बन्धमें वास्तव कहा जाता है और अपूर्ण वस्तुके सम्बन्धमें अवास्तव कहा जाता है।

ब्रह्मके निःशक्तिक विचारको कोई कोई मतवादी स्थापन करना चाहते हैं। 'धन' और 'ऋण', '+' और '—'; खण्ड करना हो तो जिस प्रकार वृद्धि कर लेनी पड़ती है, पश्चात् घटा (Subtract) लिया जाता है। जिस प्रकार मकरध्वज प्रस्तुत करने की प्रणालीमें पहले सोनेका समावेश कर पश्चात सोनेको निकाल लिया जाता है। वस्तुकी जो योग्यता है, वह कुछ देकर पश्चात् निकाल ली जाती है, इस प्रकार का विचार निःशक्तिक विचारके ऊपर प्रतिष्ठित है।

गुणजात जगतमें कुछ चीजोंको 'धन' किया जाता है और कुछ का 'ऋण' किया जाता है। कर्मवादके विचारमें कोई व्यक्ति विक्रेता होना चाहते हैं और कोई व्यक्ति क्रयकर्त्ता होना चाहते हैं। उधार लेने का अर्थ है उधारको भविष्यमें शोध किया जायगा। पशुओंका विनाश कर हम शरीर का जो मङ्गल करना चाहते हैं, उसमें हम देख पाते हैं कि जिस पशु को हम मारते हैं या संहार करते हैं, वही पशु हमें पुनः मारेगा या संहार करेगा। कर्मवाद इस प्रकारके अदल-बलके नियम पर चल रहा है। कर्मवादी स्वयं अपनेको समर्थ या साधु मानते हैं। किन्तु वे यथार्थमें दूसरों की अपेक्षा रखते हैं। वे सोच सकते हैं कि उन का Canine teeth (सुवा दांत) मांस भोजन करने के लिए है। किन्तु जिनका मांस खाया जा रहा है, जिनके शरीरसे जितना मांस ग्रहण किया जा रहा है, सूद और मूलधनके साथ उसका परिशोध करना पड़ेगा, सब लौटाना पड़ेगा। कर्मजगतकी विधि इस प्रकार की है। रुपया उधार लिया गया। ऋण तो चुकाना पड़ेगा, साथ ही साथ और कुछ सूद भी देना पड़ेगा। ज्वार के समय पानी उठता है और भाटेके समय पानी उतर जाता है। यौवनके ज्वारके समय शरीरमें शक्ति या सामर्थ्य रहता है, वृद्धकालके भाटेमें वह सब चला जाता है। शरीरको शोध देकर या छोड़कर चला जाना होगा। अंग्रेजी भाषामें मृत्युके लिए एक प्रतिवाक्य है— "Paying debt to nature"। नित्यानित्य का विवेक जिनमें उदित नहीं हुआ है, वे लोग इस विचारमें पतित होते हैं—

'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।' अर्थात् वे कर्मचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं।

जिस वस्तुकी रक्षा नहीं की जा सकती, वही अवस्तु है। उनके साथ अवास्तव धारणा वर्त्तमान है, जो for the time being (उस समय मात्र के लिए) उपयोगी है। अपरिवर्त्तनशील होने पर उसे 'वस्तु' कहा जाता किन्तु कर्मकाण्डमें जिस वस्तुका अस्तित्व देखा जाता है, वह बुलबुलेकी तरह है। कुछ कालके लिए उसका floatation (अस्तित्व) है, कुछ समय पश्चात् वह फूट जाता है। वास्तव ज्ञान या वास्तव विज्ञान अवस्तु और वस्तुके विषयमें जो पार्थक्य है, उसका निरूपण करता है। जो व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य—इन छः रिपुओंकी दासता करते हैं, वे वास्तव विज्ञानमें कदापि अधिकार प्राप्त नहीं कर सकेंगे। वास्तव विज्ञानमें अधिकार पाने के लिए काम-क्रोधादि का यथासाध्य दमन करना आवश्यक है।

वास्तव विज्ञानमें प्रतिष्ठित होना आवश्यक है, नहीं तो प्रत्येक कार्यमें गड़बड़ी कर बैठेंगे। जहाँ शक्तिकी विविध क्रिया है, वहाँ जन्म, स्थिति और भंगकी भी क्रिया है। जहाँ शक्ति अव्यभिचारिणी या भगवन्निष्ठ है, वहाँ प्रेम धर्मके लिए कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अवास्तव वस्तुएँ परस्पर विवाद उत्पन्न कर प्रलोभन का इन्द्रजाल सृष्टि कर आत्म-विनाशके पथकी ओर ले जाती हैं। अवस्तुओं के सम्बन्धमें जो धर्म हैं, वे सभी ही अवास्तव हैं। केवल-चेतन-विज्ञानमें दूसरी वस्तुओंके साथ निकटता और मिलावट नहीं होती।

खण्ड वस्तुओंमें जो जो धर्म हैं, वे सभी धर्म खण्डके परिमाणानुसार दिए गए हैं। एक वस्तु में सभी धर्म पूर्णरूपसे देखे नहीं जाते। जिस प्रकार रुद्रदेवमें संहारकी शक्ति एवं ब्रह्मामें प्रजा-सृष्टि की शक्ति भगवान् विष्णु द्वारा प्रदत्त शक्तियाँ हैं। एक आधिकारिक देवता में जो शक्ति है, दूसरे अधिकारिक देवता में उस शक्ति का अभाव है। किन्तु जब विष्णु की स्थितिके सम्बन्धमें विचार होता है, तब वस्तु का विचार है, वहाँ वस्तुकी माया का विचार या खण्ड शक्तिका विचार नहीं है। जब जन्म भंग का विचार होता है, तब वस्तु की माया का विचार होता है। हम तब उसे ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरी जगज्जननी कहते हैं। जो वस्तु चेतनके भावका आवरण कर अचेतन के भावको ले आती है, खण्ड भाव का प्रचार करती है, वह वस्तु जिस शक्तिसे उत्पन्न हुई है, वहाँ harmonising (सामञ्जस्य करनेवाली) शक्ति नहीं है। वहाँ एक rupturing potency (भेदयुक्त शक्ति) के fountainhead (मूलहेतु-भूत विषय) को ढूँढा जा सकता है, जो अव्यभिचारिणी भक्ति नहीं है, जो दो शक्तियोंमें परस्पर संघर्ष कराता है।

इस प्रकारकी शक्तिका विचार करते करते आरोहवादी ब्रह्ममें निःशक्तित्व विचार करते हैं। 'बड़ा' और 'छोटा'—'वैकुण्ठ' और 'माया'—ये दो बातें हैं। माप लेने का धर्म जिस जिस शक्तिमें प्रवेश कर गया है, वहाँ मायाके ताण्डव नृत्यके कारण लघुत्वके विचार को ही गुरुत्वके रूपमें समझने का भ्रम उपस्थित होता है।

"द्वैते भद्राभद्र ज्ञान—सब मनोधर्म।
एइ भाल, एइ मन्द—एइ सब भ्रम॥"

जहाँ 'संकल्प और विकल्प है, वहीं मनोधर्म है। एक चीज़को ग्रहण किया जा रहा है और दूसरे का त्याग किया जा रहा है। मन एकतात्पर्यपरतासे हटकर विभिन्न उद्देश्योंमें चलायमान होता है। जन्म, तात्कलिक स्थिति एवं भंगसे युक्त यह जगत जिस शक्तिके द्वारा परिचालित हो रहा है, जो शक्ति विवर्त्त' (कल्पित रूप) धारण कर लोगोंमें भ्रम उत्पन्न कराती है, वही शक्ति ही 'माया' है। उस मायाको पार करने के लिए गीता में केवल एक ही उपाय बतलाया है। गीता में बहुतसे उपायोंकी बात नहीं कही गई है— मनोधर्मके 'जितने मत, उसने पथ' की बात नहीं कही गई है। मनोधर्ममें ही बहुत से मत और बहुतसे पथ हैं। आत्म-धर्मका राजकीय पथ या अव्यर्थ उपाय केवल एक ही है। वह भगवानकी वाणीमें प्रकाशित शरणागति का या प्रपत्तिका अथवा केवला भक्तिका पथ है।

माया बहुतसे रूप धारण कर विभिन्न शक्ति प्रयोग कर रही है, जिसके द्वारा माया आवरण करनेवाली एवं विक्षेप करनेवाली वृत्ति का प्रयोग कर रही है। इन दोनों वृत्तियों द्वारा जीवका वस्तु सम्बन्धी वास्तव ज्ञान आवृत है। इस मायाके हाथसे उद्धार पानेके लिए एकमात्र कृष्णके शरणमें जाने को छोड़कर और कोई दूसरा उपाय नहीं है— 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।'

आरोहवादी बहुत्वसे एकत्वकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। सांख्यकारने चौबीस तत्व माना है। पृथ्वीसे उन्होंने विचार आरम्भ किया है, जो वे प्रत्यक्ष ज्ञानसे देख पाते हैं। प्रत्यक्षका अवलम्बन कर जो अनुमान होता है, वही उनका आधार या सम्बल है। वही उनकी शक्तिहै। बहुतसे व्यक्तियोंके विचार से विश्वमें बहुदेव-वाद उपस्थित हुआ है। "असद् अकरणात् उपादान-ग्रहणात् सर्व संभवाभावात्।"

जलसे दही नहीं हो सकता, दूधसे ही दही होता है। खण्ड राज्यके सब वस्तुओंमें सब कुछ नहीं है। लोहा आगके ऊपर रखे जाने पर गरम होता है। उस समय वह दूसरे को जला सकता है। किन्तु लोहामें अपनी दाहिका शक्ति नहीं है। आगकी दाहिका शक्ति लोहामें अर्पण की गई है। लोहामें दाहिका शक्ति ग्रहण करनेकी योग्यता है। सभी पार्थिव कार्य बुलबुलेकी तरह अभ्युदयका चिन्ह प्रकट कर पुनः विलीन हो जाते हैं। जब वस्तु विकार प्रदर्शन करती है, तब ही उसका स्वरूप प्रकट हो जाता है। अर्थात् 'वस्तु है या अवस्तु है,' यह जाना जाता है।

अपरा प्रकृति वह है जिसके द्वारा भगवान की बहिरंगा शक्तिकी इच्छा प्रकृष्ट रूप से स्थान प्राप्त करती है, जहाँ बहिरंगा शक्ति की इच्छा विशेषता प्राप्त करती है। नश्वर अप्रयोजनीय अभावयुक्त कार्यसमूह उत्पन्न करने के लिए जो शक्ति है, वह शक्ति स्वरूप-शक्ति की छायाके समान है। जिस प्रकार एक मनुष्यकी परछाई तालाबके जलमें दिखाई दे रही है। परछाईमें मनुष्यका सादृश्य है, किन्तु परछाई वस्तु नहीं है।

भगवान चेतन-धर्म-विशिष्ट हैं। उनसे विपरीत वस्तु चेतन का अभाव प्रकाश करती है। जब हम छायाको देखते हैं, तब ठीक उसी वस्तु की तरह ही देखते हैं। कई समय चूनेके पानीको ही दूध समझते हैं। श्यामा घासको

धान समझते हैं। तब Analogy (समानता) Deceptive (धोखा देनेवाली) है। वर्तमान बाहरी ज्ञान द्वारा प्रतारित हमारी आंखों द्वारा वस्तु दर्शन करनेके कारण हम अवास्तव विज्ञान का बहुत आदर करते हैं या यथार्थ में अज्ञानको ही विज्ञान कहते हैं। प्रकाश के पीछेकी तरफ ही दौड़ लगा रहे हैं। प्रतिफलित कार्यको वास्तववस्तु समझना उचित नहीं है। श्रीमद्भागवतसे अवास्तव विज्ञान के अध्यापक भिन्नता प्राप्त हैं। अविज्ञात या अनजाने वस्तुको यदि जाना न जाय; तो भ्रमयुक्त ज्ञान रहते समय अवास्तव वस्तु को वस्तु समझने की चेष्टा होती है।

हम अधनको धन समझ रहे हैं। यह अवस्था वास्तव सत्य-विषयमें पूर्ण ज्ञानके अभावके कारण उत्पन्न है। अपना स्वास्थ्य पुनः प्राप्त करने पर हम जान सकेंगे कि अस्वस्थताके समय हम किस प्रकार प्रलाप कर रहे थे! For the time being (वर्त्तमान कुछ समय के लिए) जो हमें suit (ठीक) जँच रही है, वह सर्वदा हमारे साथ नहीं रहेगी। Infant class (शिशु कक्षा) के ज्ञानके साथ Post-grauduate class (स्नातकोत्तर कक्षा) के ज्ञानकी तुलना करने पर हम समझ सकते हैं कि ज्ञान कैसी वृद्धिको प्राप्त हुआ है। Paralysis (लकवा) हो जाने पर हमारी योग्यता भी तुरन्त नष्ट हो जाती है। दूसरे जन्ममें दूसरे स्थान जन्म में लेने पर हमारे इस जन्म का ज्ञान वृथा साबित होता है।

मुक्त्यै यः प्रस्तरत्वाय शास्त्रमूचे महामुनिः।

पत्थर की तरह अनुभूतिरहित अवस्था अचिन्मात्रवादी की काम्य वस्तु है। प्रकृति को प्रसूति (प्रसवित्री) समझने की प्रणाली मूर्खता है। निरीश्वर सांख्यके विचारके साथ निर्विशेष विचारकी आन्तरिक सहानुभूति है। बाहरकी तरफसे एक तात्कालिक भिन्नता देखी जाने पर भी वे परस्पर आत्मीय हैं। August Comte का Positivism (स्थिरत्ववाद) वास्तव विज्ञान नहीं है। ऐसी वास्तवता श्रीमद्भागवत का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। यह Positivism (स्थिरत्ववाद) यथार्थमें अवास्तव दर्शन है।

आध्यक्षिक या जड़ दार्शनिक मत चाहे भारतीय हो या अभारतीय हो, अवास्तव विचारके ही अन्तर्गत हैं। जिन व्यक्तियों ने केवल जड़ीय 'मेरापन' द्वारा पाये जाने वाले धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष को ही समझा है, वे लोग अवास्तव वस्तु-ज्ञानमें आबद्ध हो गये। वास्तव वस्तु-विज्ञानका उदय होने पर अन्याभिलाष, कर्म, ज्ञान, योगादिको साधन का क्रम कहकर हम ग्रहण नहीं करते। अवास्तव वस्तु-ज्ञानसे इस संसारकी विचार-धारा लेकर धर्मार्थ-काम-सेवा एवं मोक्षको प्रयोजन समझ बैठते हैं। भोगी सम्प्रदाय धर्मार्थ-कामी हैं और मुक्तिकी इच्छावाले व्यक्ति धर्मार्थ काम का परित्याग कर या धर्मार्थ काम का भोग करते-करते मुक्ति-भोग कामी हैं। यह प्रवृत्ति जब तक रहे, तब तक हम अवास्तव विज्ञानमें आबद्ध हैं। सम्पूर्ण रूप से अप्रतिहत या अबाध कैवल्य है—प्रेम। अद्वयज्ञान व्रजेन्द्रनन्दनकी सेवा ही वह प्रेम है। उसमें अमङ्गलकी कोई भी बात नहीं है। वास्तव वस्तुको जानना होगा। वस्तु की शक्तिकी विभिन्नताको भी जानना होगा। अन्तरङ्गा एवं बहिरङ्गा—इन दो प्रकार की शक्तियोंका विक्रम न जानने पर तटस्था

शक्ति या जीव अज्ञानसे आच्छादित होकर अवास्तव वस्तुको ही वास्तव वस्तु समझता है।

भुक्ति-मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते।
तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

'श्रीचैतन्यदेवकी सेवा नहीं करूँगा', ऐसा विचार प्रबल होने पर मुक्तिरूपी पिशाची हमारे द्वारमें आकर उपस्थित होती है। तब पांच प्रकारके क्लेश हमें आबद्ध करते हैं। तब हम कभी तो भोग की कामना या कभी मुक्ति-कामनाके अधीन हो पड़ते हैं।

जिस वस्तु का ज्ञान हमारे लिए आवश्यक था, उस वस्तु को न जानकर हम अभावग्रस्त वस्तु को ही जानना चाहते हैं। हम पुष्प का घ्राण न लेकर पुष्प की छाया का आघ्राण लेने की चेष्टा कर रहे हैं। अवास्तव वस्तुमें वस्तु का भ्रम ही विवर्त्त है। जिस विषयके पीछे हम कामलुब्ध होकर दौड रहे हैं, उसे पाने पर ही हमें सुविधा मिल जायगी, ऐसी भोगोन्मुखता अवास्तव वस्तु-विज्ञानसे उदित होती है।

हम Cynical (विद्वेषपूर्ण) एवं Stoical (उदासीन) Idea (विचार) कभी-कभी ग्रहण करते हैं। Privations from all necessaries of life— अपक्व वैरागी बनने को ही हम प्रच्छन्न भोगके लिए सुविधाजनक समझते हैं इस प्रकार मायादेवी हमें नाना प्रकारसे Ambitious (उमङ्गपूर्ण) बनाकर भोगी बना रही है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति मोक्ष एवं भोगकी कामनाओंको 'पिशाची' कहते हैं।

हम सोचते हैं कि भगवद्वस्तुको हम deprive (वञ्चित) करेंगे—धोखा दे देंगे—अपनी सुविधा कर लेंगे। किन्तु हम यह नहीं जानते कि किस तरह सुविधा होती है। त्रिपुटी के विनाश हो जानेपर हमारी सुविधा होगी, ऐसा सोचते हैं। हम 'चिन्मात्र' हो जाना चाहते हैं।

मेरा नित्य चिद्विशेष मैं नहीं चाहता, क्योंकि अचिद्-विशेषने मुझे भय दिखला दिया है। उसी भयसे मैं डर गया हूँ। श्रीमद्भागवतमें (३।९।६) कहते हैं—

तावद्भयं द्रविणदेह सुहृन्निमित्तं
शोकः स्पृहापरिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्त्तिमूलं
यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः ॥

अर्थात् जब तक मनुष्य आपके अभय पादपद्मों का प्रकृष्ट रूपसे वरण नहीं करते, तभी तक उन्हें अर्थ, देह एवं आत्मीय स्वजन, सुहृद्वर्ग आदिके विनाश का भय होता है एवं उनके विनाशसे शोक, पुनः उन्हें प्राप्त करनेकी स्पृहा, उसके पश्चात् तिरस्कार प्राप्त होता है। तथापि उनके लिए तीव्र पिपासा, पुनः किसी प्रकार प्राप्त होने पर अनात्म-वस्तु में 'मैं और मेरी' रूप 'जड़ासक्ति वर्त्तमान रहती है। यही संसार का मूल है।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्मायया तो बुध आभजेत् तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥

भगवद्विमुख जीवोंमें मायाके कारण स्वरूपकी विस्मृति एवं उसके द्वारा देहमें आत्माभिमान होता है। द्वितीय अर्थात् कृष्ण को छोड़कर अनात्म-वस्तुमें अभिनिविष्ट होने से ही देहादि सुहृद्वर्गके लिए भय होता है। अतएव तत्त्वज्ञ व्यक्ति गुरुको ईश्वर अर्थात् भगवानसे अभिन्न प्रभु एवं परमश्रेष्ठ जानकर ऐकान्तिकी भक्तिके साथ उनकी सेवा करेंगे।

जिन छायाओं का मैं संग्रह कर रहा हूँ, उन छायाओंको मुझे जेब में रखना होगा, मर जाने पर सब छायाओंको छोड़ जाऊँगा। मैंने जो अर्थ हाथ में ले रखा है, उसे छोड़ जाना होगा। जो ज्ञान का छोटा-सा अंश मैंने इस विश्वसे संग्रह किया है उसे छोड़ जाना होगा मैं इस गौर जगतमें जन्म ग्रहण करूँगा कि अन्यत्र जन्म ग्रहण करूँगा, नहीं जानता। क्योंकि अनन्त ब्रह्माण्ड है। सभी वस्तुओंको मैंने सम्पत्ति समझकर ग्रहण किया है और कररहा हूँ, सभी सम्पत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं—यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। कुछ समयके लिय अर्जन एव पश्चात् अर्जित द्रव्य का भी हस्तान्तरण करना पड़ता है। मैं अवास्तव विचार या वस्तु की छायामें व्यस्त हूँ, किन्तु वस्तुके प्रति नहीं। अभावग्रस्त मैं द्रव्य-संग्रह करने के लिए प्रस्तुत हूँ—पुण्य-संग्रह करनेके लिए व्यस्त हूँ। मेरे वे सभी यत्न केवल मेरे aggrandisement (अभ्युदय) के लिए हैं।

किन्तु मेरा इन्द्रिय-तर्पण कितना समयके लिए है? ये इन्द्रियाँ भी नहीं रहेंगी। स्वर्ग (Paradise), 'विहिस्ता' मुझे भविष्यमें सुख देगा, ऐसा सोचना केवल वंचना मात्र है। इस जगतमें मैं भोग नहीं चाहता, मैं केवल 'बूँद' हो जाऊँगा; मेरी मुक्तिके लिए जो इच्छा है, वह भी अवास्तव है।

ब्रह्म सायुज्य उतना अपराधजनक नहीं है, ईश्वर सायुज्य सबसे अधिक अपराधजनक है। ब्रह्म केवल ज्ञान मात्र है। वह Virtually cessation of conception and perception (वस्तुतः धारणा एवं उपलब्धि का अवरोध है।)

हम सभी ही सुखके प्रार्थी हैं। सुखमें कोई प्रकारका दुःख उपस्थित न हो, इसीलिए हम व्यस्त हैं। मुक्ति-मुक्तिमें रहनेका अर्थ पिशाची के हाथमें रहना है। अहंग्रहोपासक (अपनेको 'वही ब्रह्म' समझनेवाले) 'मुक्ति' कहकर जिस वस्तुका विचार करते हैं, वह अश्व (घोड़े) के अन्डेकी तरह है। Impersonalist (निर्विशेषवादियों) की मुक्ति विकारमें मुक्तिको स्थापन करना है। किन्तु श्रीमद्भागवतका कहना है—

'मुक्तिर्हित्वान्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।'

स्वरूपमें अवस्थान करनेका अर्थ भक्तिमें अवस्थित रहना है। 'अनित्य' कदापि 'नित्य' नहीं हो सकता। 'नित्य' कदापि 'अनित्य' नहीं हो सकता। 'नित्य' एवं 'अनित्य' यदि कहीं भी एकस्थानमें रहें, तो वह तटस्थावस्था है।

भक्तिका सुख-समुद्र किस प्रकार उदित होगा, यदि धर्मार्थ-कामको चरम कल्याणकी वस्तु मानी जाए? जो प्रीतिकर धर्म वर्त्तमान समयमें हमारे निकट परम अप्रीतिकर कार्य है, उसे बाधा देनेके लिए जितने प्रकारके कठिन शुष्क तर्कशास्त्र की बातें हैं, उनका मूल्य कितना है?

भुक्ति-मुक्तिकामी व्यक्तिकी ऊँची आकांक्षा या दुराकांक्षाका स्मरण कर

भगवद्भक्त हास्यका संवरण नहीं कर पाते। किन्तु वे कई समय हास्य नहीं करते। इसलिए भुक्ति-मुक्तिकामी समझ बैठते हैं कि भगवद्भक्तोंकी बुद्धि कम है।

जिस भक्तिकी बात कही जा रही है, वह क्या कार्य है? मैं कर्त्ता हूँ, मैं कर्म कर मेरे मनः कल्पित कार्यको ठीक कर लूँगा, यह कर्मकाण्डकी बात है। कर्मकाण्डमें यथेच्छाचारिता या सत्कर्म-प्रवृत्ति है। सभी ही कर्मी हैं—कोई पापी तो कोई पुण्यवान्। आमका रस तरल अवस्थामें एक प्रकार है और सुखाये जानेपर दूसरी अवस्था प्राप्त करता है। परन्तु भक्ति इस प्रकारकी परिवर्त्तनशील वस्तु नहीं है।

अधोक्षज कृष्णज्ञानसे अतीत जिस ज्ञानकी कल्पना हो, वह 'अभक्ति' है। जो व्यक्ति जिस परिमाणमें सेवा करते हैं, वे अप्राकृत कृष्णज्ञानमें उतने ही उन्नत होते हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रील रूप गोस्वामीजीके पास भक्तिकी व्याख्या की थी—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

यही अविमिश्रा या शुद्धा भक्तिकी परिभाषा है। "आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्"—यही भक्तिका स्वरूप लक्षण है। कोई कहते हैं कि नारायणका अनुशीलन, विष्णुका अनुशीलन ही उत्तमा भक्ति है। कोई तो विष्णु-तत्त्वका परित्याग कर स्वतन्त्र देवता-भक्ति, कोई पितृ-भक्ति, देश-भक्ति आदिमें 'भक्ति' संज्ञाका संयोग करते हैं। अविद्वत् रूढ़ि या जड़ीय वृत्तिमें जितने प्रकारकी भक्तिके उदाहरण या संज्ञाएँ हैं, वे सभी 'भक्ति' पदवाच्य नहीं हैं। केवला भक्ति ही सर्वोत्तमा भक्ति है, एकमात्र कृष्णानुशीलन ही है। संकीर्ण रतिजात नारायणभक्ति, विष्णुभक्ति आदि 'भक्ति'—पदवाच्य हैं। किन्तु वे उत्तमा भक्ति नहीं हैं। कृष्णके दूसरे-दूसरे अवतारोंके प्रति भक्तिमें भक्तिका परिमाण कम हो जाता है—भक्तिका पूर्णप्रग्रह परिमुक्त नहीं होता। विष्णु-तत्त्वमें जो सभी वस्तुएँ हैं, वे कृष्णेतर नहीं हैं। एक मूल दीपसे ही दूसरे बहुतसे दीप प्रज्वलित होते हैं। किन्तु दूसरे देवताका विचार विष्णुसे बहुत नीचेके स्तरमें स्थापित है। विष्णुके अवतारसमूह मायाग्रस्त नहीं हैं। वे सभी ही मायाधीश हैं।

कृष्णानुशीलन ठीक विष्णुका या विष्णुके अवतार समूहका अनुशीलनमात्र नहीं है। विष्णुके अनुशीलनको भी भक्ति कहा जा सकता है, वह अभक्ति-जातीय वस्तु नहीं है। किन्तु भक्तिका Gradation (क्रम या उतार-चढ़ाव) है, Dose (परिमाण) कुछ कम है। तटस्थ विचारसे सेवोन्मुखता कुछ कम है। किन्तु उसमें adulteration (मिलावट) या अनित्यता थोड़ी भी नहीं है। तटस्थ विचारसे कम होने पर भी वे सभी स्वयं परिपूर्ण हैं। प्राकृत जगतकी खण्ड वस्तुके धर्मकी तरह वहाँ अपरिपूर्णता या न्यूनता नहीं है। किन्तु जो मायाद्वारा आवृत है, उसे 'विष्णु' कहकर कल्पना और उसमें 'भक्ति' का आरोप करना विष्णुविद्वेष है। जिस प्रकार 'दरिद्रनारायण' आदि कल्पित शब्द चेतन धर्ममें महान् अपराध या अवास्तव ज्ञानके द्वारा विद्ध होनेकी अवस्था है। 'गौड़ीय अस्पताल' इस व्याधिकी भली प्रकारसे चिकित्सा कर रहे हैं। 'कृष्ण' को

छोड़कर— 'विष्णु' को छोड़कर दूसरी वस्तुमें ईश्वरज्ञान एक भयानक व्याधिविशेष है। उस व्याधिकी शान्तिके लिए ही 'गौड़ीय अस्पताल' खोली गई है।

'भक्ति' की बात सुननेपर अभक्त व्यक्ति जल-भूनने लगते हैं। हम जो कुछ लेकर वास कर रहे हैं, वह तो नष्ट हो जायगा। श्री श्रीगौरसुन्दर कहते हैं कि योग्य-अयोग्य आदि विचार न कर यह परम गोपनीय ज्ञान— भक्तिकी बात सभीसे कहो। इसलिए उन्होंने श्रीलरूप और श्रीलसनातन— इन दो सेनापतियोंको पश्चिम देश भेज दिया। स्वयं दक्षिण देश गये एवं श्रील हरिदास एवं श्रीलनित्यानन्द प्रभुको गौड़देश भेज दिया।

इस तरह missionary system (संघबद्ध प्रणाली) के प्रचारकी बात परवर्त्तीकालमें भी सुननेमें आती है। हमारे भाग्यदोषसे पिछले तीन सौ वर्षोंसे 'भक्ति' शब्दकी यथार्थ व्याख्या बंगाल एवं भारतवर्षसे उठ गई है।

श्रील रूप गोस्वामीपादने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में 'भक्ति' शब्दकी यथार्थ व्याख्या या अविकृत व्याख्या की है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें भक्तिरसामृतसिन्धुके 'भक्ति' शब्द की व्याख्या बंगला भाषामें की गई है। किन्तु उस बंगला पयार का भी दूसरे प्रकार अर्थ होता है।

श्रील रूप गोस्वामीपादने श्रीचैतन्य महाप्रभुको 'भक्तिरसामृतसिन्धु' दिया था। श्रीमन्महाप्रभुजीने उस ग्रन्थका सम्पूर्ण रूपसे अनुमोदन किया था। उस ग्रन्थकी बातें हम यदि स्वीकार न करें, तो कदापि हमारी सुविधा नहीं होगी।

अघ, बक, पूतना, दन्तवक्र, शिशुपाल आदिने प्रतिकूल अनुशीलन कर Theism (ईश्वरत्व) को नष्ट करना चाहा था। इन सभीका कृष्णने भली प्रकारसे विनाश किया था।

अनुकूल कृष्णानुशीलन ही Theism Proper (यथार्थ ईश्वरवाद या आस्तिकता) है। चित्रक, रक्तक, पत्रक, श्रीदाम-सुदाम, श्रीनन्द-यशोदा, व्रजगोपियाँ आदि श्रीकृष्णके अनुकूल अनुशीलनकारी हैं। इनकी श्रेणीमें इनके आनुगत्यमें जितने व्यक्ति भी हो चुके हैं, वे सभी ही अनुकूल कृष्णानुशीलनकारी हैं।

भगवत्ताका पुरुषोत्तमत्व (Personality of Godhead) नष्ट करूँगा— यह दुर्बुद्धि चेतनकी वृत्ति नष्ट करनेकी दुराशा है। यदि कोई चेतनकी वृत्तिका अपव्यवहार करे, तो वह उसका दायित्व है।

किन्तु अनुकूल भावसे कृष्णका अनुशीलन करना हमारे लिए आवश्यक है। ज्ञानमिश्रा भक्तिका विचार रहनेपर भी ज्ञानके द्वारा आत्माकी केवला अप्रतिहता वृत्ति आवृत्त हो जाती है। केवला भक्ति आत्माकी वृत्ति है— Unalloyed function of the soul— ज्ञान विपरीत जातीय वस्तु है। ज्ञान है अपने द्वारा सेवापरता, भक्ति सेव्यपर आत्मचेष्टा है। ज्ञान यदि अपनी बहादुरी—सुविधा पानेके लिए भगवद्भक्त पर आक्रमण करे, तो वह पक्षाघात ग्रस्त हो जाता है। कर्मावरण या ज्ञानावरण रहते समय 'भक्ति' खराब द्रव्य या विपरीत वस्तुके साथ मिश्रित है। रामानन्दी सम्प्रदायमें विद्धा भक्तिका विचार

है। रामकी उपासना या रामजी की भक्ति करने पर भी फलकालमें उनसे मिल जाने की चेष्टा है। अयोध्यावासी रामानन्दी सम्प्रदाय श्रीरामानुजीय विचारसे भिन्न हैं। कोई कोई रामानुजीय व्यक्ति भी अभी रामानन्दीय विचार ग्रहण कर रहे हैं। वे लोग श्रीलक्ष्मीनारायणकी पूजाके बदले श्रीसीतारामकी पूजा एवं 'योगवाशिष्ट' पढ़ने जाकर श्रीशङ्करके विचारमें प्रवेश कर रहे हैं। कोई कोई पंचोपासक हो पड़े हैं—दूसरे देवताओंकी पूजा कर रहे हैं।

श्रीरामानुजाचार्यका यह विचार नहीं है। दूसरे देवताओंकी पूजा करने पर अन्याभिलाष आकर उपस्थित होता है, अव्यभिचारिणी भक्ति का नाश होता है। स्वतन्त्र रूपसे दूसरे देवता की पूजा 'भक्ति' नहीं है, वह तो अन्याभिलाषमयी अभक्ति है।

निर्दिष्ट समय अतिक्रान्त हो गया है। अतएव आज मैं अपना वक्तव्य यहीं समाप्त करता हूँ।

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

प्रश्नोत्तर

(समाज–नीति)

१– वर्णाश्रम-विधि आदरणीय क्यों है ?

"उत्तम रूपसे समाज–रक्षा करनेके लिए भारतवर्षमें आचार्योंने वर्णविभाग एवं आश्रम-विभागरूप सामाजिक विधि स्थापित की है। समाजकी रक्षा होने पर सत्संग और सदालोचना द्वारा परमार्थकी पुष्टि होती है। इसलिए वर्णाश्रम सब प्रकारसे आदरणीय है; क्योंकि उसकेद्वारा क्रमशः श्रीकृष्ण प्रीति प्राप्त करनेकी संभावना है। अतएव इन सभी अर्थगत व्यवस्थाका एकमात्र मूल तात्पर्य 'परमार्थ' है, जिसका अन्यतम नाम 'श्रीकृष्णप्रीति' है।"

—बृ०सं० ५।९

२- बद्धावस्थामें वर्णाश्रम धर्मका उल्लंघन करने पर किसी मंगलकी संभावना है क्या ?

"जो व्यक्ति समाज विज्ञानके सम्बन्धमें यथेष्ट आलोचना कर चुके हैं, वे सभी एकमत होकर यही स्थिर करते हैं कि वर्णाश्रम व्यवस्था ही सर्वोत्कृष्ट सामाजिक व्यवस्था है। वर्णाश्रम धर्ममें अवस्थित होनेपर जीवोंकी प्रकृतिका लोप नहीं हो सकता। बल्कि उसकी सहायतासे बहुत अवकाश एवं सुविधाके साथ भगवत-प्रेमालोचनाका कार्य हो सकता है। वर्णाश्रम धर्म ही वैष्णवोंकी बद्धदशामें एकमात्र समाज है।"

—'मनुष्य सम्बन्ध और वैष्णव धर्म—प्रथम प्रबन्ध' स० तो० २।७

३- वर्णधर्मको छोड़कर कोई सभ्य समाज चल सकता है क्या ?

"यूरोपमें जो व्यक्ति वणिक् स्वभावके हैं, उन्हें वाणिज्य ही अच्छा लगता है एव वाणिज्य द्वारा उन्नति कर रहे हैं। जिनका क्षत्र-स्वभाव है, वे 'मिलिटरी लाइन' या सैनिक क्रिया अवलम्बन करते हैं एवं जिनका शूद्र स्वभाव है, उन्हें साधारण सेवा-कार्य अच्छा लगता है। वस्तुतः वर्णधर्मका कुछ परिमाणमें अवलम्बन न करनेपर कोई समाज ही नहीं चलता। विवाहादि क्रियामें वर्णसम्मत ऊँची-नीची अवस्था एवं स्वभावकी परीक्षाकी जाती है। वर्णधर्मका कुछ परिमाणमें अवलम्बन कर यूरोपकी जातियोंका समाज संस्थापित होने पर भी यह धर्म उनमें वैज्ञानिक रूपसे सम्पूर्ण आकार प्राप्त नहीं हुआ है।"

—चै० शि० २।३

४- वर्णविधानकी प्रकृष्टउन्नतिके पहले किस प्रकार समाज-नीति प्रचलित रहती है ?

"वैज्ञानिक प्रणालीद्वारा जलयान आदि जबतक तैयार नहीं हुए थे, तबतक अवैज्ञानिक नौका आदिके द्वारा जलयात्रा-कार्य का जिस प्रकार निर्वाह होता था, समाज उस प्रकार अर्थात वर्णविधान प्रकृष्ट रूपसे जिस देशमें जब तक चालित नहीं होता, तबतक उसका एक अवैज्ञानिक प्रागवस्था या पूर्वावस्था ही उस देश के समाजको चलाती रहती। वर्णविधानकी अवैज्ञानिक पूर्वावस्था ही यूरोपमें (संक्षेपमें भारतको छोड़कर सर्वत्र ही) समाजका चालक होकर वर्त्तमान है।"

चै० शि० २।३

५- वैष्णव-समाज और अवैष्णव समाजमें भेद क्या है ?

"वैष्णव समाज एवं दूसरे समाजमें भेद यही है कि वैष्णव समाजका एकमात्र चरम उद्देश्य भगवत्-प्रेम है एव दूसरे समाजका उद्देश्य ही स्वार्थपर काम है। दूसरे समाजमें जो लोग अवस्थित हैं, वे लोग देह-पुष्टि इन्द्रिय-तृप्ति, नीति एवं जड़ीय विज्ञानकी आलोचनाद्वारा इन्द्रिय-तृप्तिकारक विषयाविष्कार एवं जड़ीय क्लेशकी क्षणिक या तात्कालिक निवृत्ति रूप कार्यको ही जीवन एवं समाज का चरम उद्देश्य समझते हैं। उनमेंसे कोई-कोई मरणान्तर सुखको, कोई-कोई पारत्रिक भोगको एवं कोई-कोई जीवोंके अस्तित्व नाशरूप निर्वाणका बहुत

आदर करते हैं। वैष्णव-समाज स्थित सभी जीव देह-पुष्टि, इन्द्रिय-तृप्ति, विज्ञान, नीति एवं जड़ दुःख निवृत्तिके द्वारा भगवत्-प्रीतिके अनुशीलनकी अनुकूलता प्राप्त करते हैं। दोनों समाजकी आकृति एक होने पर भी प्रकृतिमें भिन्नता है।"

'मनुष्य सम्बन्ध एवं वैष्णव-धर्म',स०तो०२।७

६– किन किन विधियोंका अवलम्बन करने पर भारतीय वर्णाश्रम धर्मका पुनरुत्थान हो सकता है ?

"वर्णाश्रमकी फिरसे स्वस्थता लानेके लिए निम्नलिखित कुछ विधियोंका पुनः प्रचलन करना होगा—

(१) केवल जन्मके कारणसे किसी व्यक्तिका वर्ण-निर्णय न करना होगा।

(२) बाल्य-संग एवं ज्ञान संग्रह द्वारा जो स्वभाव जिसमें प्रबल देखा जाता है, उसी स्वभावके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिका वर्ण निश्चित करना उचित है।

(३) वर्ण-निर्णय करते समय स्वभाव और रुचिके साथ पिता-माताके वर्णके सम्बन्ध में थोड़ा विचारकर वर्णका निर्णय करना आवश्यक है।

(४) पुरुषका उपयुक्त वयस होने पर अर्थात् पन्द्रह वर्ष वयसके पश्चात् कुलपुरोहित, भू-स्वामी, पिता-माता एवं ग्रामस्थ कुछ निःस्वार्थ व्यक्ति लोग बैठकर वर्ण-निर्णय करेंगे।

(५) प्राप्तवयस्क पुरुषका क्या वर्ण होना उचित है— ऐसा प्रश्न उठाया नहीं जायगा। किन्तु प्राप्त-वयस्क पुरुषने पितृ-वर्ण-प्राप्तिकी योग्यता अर्जन की है या नहीं— यह प्रश्न ही उठेगा।

(६) यदि देखा जाय कि पितृ-वर्णकी योग्यता मिली है, उसके अनुसार संस्कार किया जायगा। यदि देखा जाय कि उच्च वर्ण-प्राप्तिकी योग्यता प्राप्त की है, उसमें उसका संस्कार होगा। यदि देखा जाय कि पितृ-वर्ण से जो अधम वर्ण है, उसीके लिए उपयोगिता हुई है, तो बालकको और दो एक वर्ष समय दिया जायगा।

(७) दो वर्षके पश्चात् पुनः पहलेकी तरह विचार कर उसका वर्ण-निरूपण किया जायगा।

(८) प्रत्येक ग्राममें एक समाज-संरक्षक-विधान भूस्वामी एवं पण्डितों द्वारा प्रचलित रखना होगा।

(९) इन सभी कार्योंका जिससे यथाविधि प्रचलन हो, इसके लिए राजाकी सहायता लेनी होगी। सम्राट् या राजा वास्तविक वर्णाश्रम-धर्मका रक्षक है।

(१०) जिसका जो वर्ण होगा, उसके लिए उसीके अनुसार विवाहादि-संस्कार और अन्यान्य अधिकार होंगे। इसके उल्लंघन करनेवालोंके प्रति राजदण्ड विधान करना होगा।"

'मनुष्य सम्बन्ध और वैष्णव-धर्म,'
स०तो० २।७

७– समाज कितने प्रकारका है ? जीव क्या किसी भी समय समाजशून्य हो सकता है ?

"कोई कोई सोचते हैं कि सामाजिक

व्यक्ति को 'वैष्णव' कहा नहीं जा सकता। ऐसा सिद्धान्त एक भ्रम है। समाज वास्तवमें तीन प्रकार का है अर्थात् विषयी-समाज, मुमुक्षु-समाज एवं मुक्त-समाज। जीव किसी समय भी समाजशून्य नहीं होता। जीवका स्वभाव ही सामाजिक है। जड़मुक्त होनेपर भी जीवके लिए शुद्ध-भक्त-समाज अनिवार्य है। अतएव जीव वनमें ही रहे, गृह में ही रहे या वैकुण्ठमें रहे, वे सर्वदा ही सामाजिक हैं। वैष्णव-जीव एवं दूसरे जीवमें भेद यही है कि वैष्णव-जीवका वैष्णव-समाज है एवं दूसरे जीवका दूसरा समाज है। यहाँ यही मात्र सिद्धांत हुआ कि वैष्णव-धर्म एव वैष्णव-समाजमें किसी प्रकारका भेद नहीं है।"

—'मनुष्यसम्बन्ध एवं वैष्णव-धर्म, प्रथम प्रबन्ध,' स० तो० २।७

८- किस प्रकारका समाज धर्म भारतवर्षका उपयोगी है? सहसा समाज-संस्कारमें व्रती होना क्या उचित है?

"दोनों ओर ही विपत्ति है। एक ओर कुसंस्कार रूप कीड़ा हमारे समाजको निःसार कर रहा है। चुपचाप रहने से अमंगल की ही संभावना है, मंगल की नहीं। हमारे सामाजिक बल-वीर्य-सौभाग्य आदि सभी ही क्रमशः लुप्त हो रहे हैं। जिस आर्य वंशके प्रतापसे बहुत समय तक पृथिवी कम्पमाना थी, उसी आर्य वंशके व्यक्ति अभी म्लेच्छोंसे भी हीन हो गये हैं एवं क्रमशः अधिकतर हीन होते चले जा रहे हैं। सहृदय व्यक्ति इन सभी बातोंकी आलोचना कर क्रन्दन कर रहे हैं। जो हृदय-विहीन व्यक्ति हैं, वे निश्चिन्त होकर क्रमशः अधोगति प्राप्त कर रहे हैं। दूसरी ओर दृष्टि करने पर भी नाना प्रकार की विपत्तियाँ देखी जाती हैं। यदि वर्णाश्रम व्यवस्था त्याग कर हम नये सिरे से समाजकी स्थापना करें, तो हमारा आर्यत्व और नहीं रहता, क्योंकि वैज्ञानिक समाजका लोप हो जाता है। उदाहरण के लिए कहा जाय तो बौद्ध-समाज, जैन-समाज, देशीय ईसाई-समाज, ब्रह्म-समाज आदि वर्णाश्रमरहित अवस्थाओं की भारतभूमिमें कोई प्रतिष्ठा नहीं हुई। बौद्ध-समाज एवं जैन-समाज आदि गुफाके भीतर छिपे हुए थे, ब्रह्म-समाज कुटीर में आबद्ध हो पड़ा—इनमेंसे किसी का भी सामाजिक स्वाधीन जीवन नहीं है। कहाँ बौद्ध तान्त्रिकता है या कहाँ नव-विधान है? कोई भी किसी काममें लग न सका। कदापि यह विज्ञान-पीठ भारतमें किसी काममें न लगेगा। यदि हम सहसा वर्णाश्रम-धर्म संस्कार आरम्भ करें, तो और भी गड़बड़ी फैल जायगी। सभी ओर अन्धकार देखा जा रहा है।"

—'मनुष्यसम्बन्ध और वैष्णव-धर्म' स० तो० २।७

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

सन्दर्भ-सार

(भक्ति-सन्दर्भ-२६)

साक्षात् शुद्धभक्तिकी बात तो दूर रहे, भक्त्याभास द्वारा भी सर्व पापक्षय होता है एवं विष्णु पदकी प्राप्ति होती है। बृहन्नारदीय पुराणमें कहा गया है कि मदिरा पानमें उन्मत्त होकर कोकिल एवं मानी स्त्री-पुरुष दण्डके अग्रभागमें पुराने वस्त्रके टुकड़ेको धारण कर एक जीर्ण विष्णु-मन्दिरमें नृत्य करनेके फलसे उनको ध्वजारोपण-व्रतके फल-स्वरूप से विष्णुपद-प्राप्ति हुई थी। इसी प्रकार व्याधद्वारा आहत एवं कुत्तेके मुखसे निकल कर भागते हुए पक्षीको भगवानके मन्दिरकी परिक्रमाके फल प्राप्त हो जानेसे अन्तमें विष्णुपदकी प्राप्त हुई थी। कहीं कहीं भक्त्याभाससे महाभक्तिकी प्राप्ति भी हुआ करती है। बृहन्नृसिंह-पुराणमें कहा गया है कि महान् भक्त प्रह्लादजीका पूर्वजन्ममें वेश्याके साथ विवाद होनेके कारण दैवक्रमसे श्रीनृसिंह-चतुर्दशी तिथिमें उपवास एवं रात्रि-जागरण हुआ था। इस प्रकार वे दूसरे जन्म में परम भक्त हुए।

ब्रह्माजीने श्रीगर्भोदशायी विष्णुकी जो स्तुति की है, उसमें भी कहा गया है—

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति।
तेऽनेक जन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये॥
(भा० ३।९।१५)

मरते हुए मनुष्य प्राणत्यागकालमें किसी कारणसे विवश होकर जिन भगवानके अवतार, गुण एवं लीलावाचक सभी नामोंका उच्चारण करनेसे उसी समय बहुत जन्मोंके संचित पाप-राशिसे मुक्त होकर निरस्तकुहक (शुद्ध) सच्चिदानन्द स्वरूप भगवानको प्राप्त कर लेते हैं, उन अज भगवानका मैं शरणागत होता हूँ। 'असुविगमे' शब्दसे उस समय जो अशुद्ध वर्णोच्चारण होता है, वही कहा गया है। 'विवश' होकर अर्थात् अपनी इच्छाको छोड़कर दूसरे कारणसे। 'अवतारगुणकर्म-विडम्बनानि' पदके द्वारा भगवन्नामसमूहकी तादृश शक्तिमत्ता का कारण व्यक्त हुआ है अर्थात् भगवान्‌के नामसमूह भगवान्‌के उन-उन अवतारोंके समान अभिन्न-शक्तिसम्पन्न हैं। यहाँ 'अवतार विडम्बनानि' पदसे नृसिंहादि, 'गुणविडम्बनादि' पदसे भक्त-वात्सल्यादि एवं 'कर्मविडम्बनानि' पदसे गोवर्द्धनधारणादि भगवल्लीलासूचक नामोंको जानना होगा।

शुद्ध भक्त्याभासकी बात तो दूर रहे, अपराध द्वारा तत्कालके लिए देखे जाने पर भी भक्त्याभासका महाप्रभाव देखा जाता है। जिस प्रकार विष्णु-धर्मोत्तरमें भगदन्मन्त्रके द्वारा आत्मरक्षाकारी किसी विप्र के प्रति एक राक्षसका यह कहना है—हे ब्रह्मन्! मैं तुम्हें खानेके लिए आया

था। किन्तु तुम्हारे अनुष्ठित रक्षामन्त्र द्वारा मैं स्वयं अस्थिर हो गया हूँ एवं उसके संस्पर्शसे मेरे मनमें यथार्थ ही ऐसा भाव उपस्थित हुआ है। वह रक्षामंत्र क्या है, यह नहीं जानता; उसका मूल आश्रय क्या है, यह भी नहीं जानता। किन्तु फिर भी उसका संग पाकर मुझे अत्यन्त आत्मग्लानि प्राप्त हुई है।

विष्णु-धर्मोत्तरमें यह भी कहा गया है—एकबार एक चूही श्रीभगवन्मन्दिरमें जल रहे दीपके तेलको पीने लगी। उस समय दीपकी वर्त्तीको मुखसे खींचकर ले जानेकी चेष्टामें में दीप दैवात् तीव्र रूप प्रज्ज्वलित हो उठा। इससे उस चूही का मुख जल गया एवं उसकी मृत्यु हुई। मृत्युके पश्चात् वह राजरानी होकर जन्म प्राप्त हुई एवं दीपदानादि लक्षण-मयी भक्तिनिष्ठा प्राप्त कर अन्तमें परमपदको प्राप्त हुई।

इसी प्रकार ब्रह्माण्ड-पुराणमें भी कहा गया है कि जन्माष्टमी-व्रतकारिणी एक दासीके साथ अपसंग होने पर भी एक व्यक्तिने जन्माष्टमी-व्रतका फल प्राप्त किया था। वृहन्नारदीयमें कहा गया है कि किसी व्यक्तिने वैसे दुष्कर्मके लिए भगवन्मन्दिरकी मार्जना कर उत्तम गतिको पाया था।

विषयस्नेहसंयुक्तो ब्रह्माहमिति यो वदेत्।
गर्भवाससहस्रेषु पच्यते पापकृन्नरः॥

(ब्रह्मवैवर्त पुराण)

विषयराग युक्त होकर जो व्यक्ति "मैं ब्रह्म हूँ"—ऐसी बात कहे, वह पापाचारी हजारों बार गर्भवास-यन्त्रणा भोग करता है।

पुनः एकबार मात्र स्वल्पचेष्टामयी भक्ति भी भगवान्‌को वशीभूत करनेका कारण है, यह भी देखा जाता है। ब्रह्माण्ड पुराणमें श्रीशिव-वाक्यसे इस बातकी सम्पुष्टि होती है—

दृष्टः पश्येदहरहः संश्रितः प्रतिसंश्रयेत्।
अर्चितश्चार्चयेन्नित्यं स देवो द्विजपुंगवाः॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठों! जो व्यक्ति विष्णुका एकबार मात्र दर्शन करते हैं, उन्हें भगवान सब समय देखते हैं। जो व्यक्ति उन भगवान का आश्रय लेते हैं, उन्हें भगवान प्रत्याश्रय प्रदान करते हैं। जो व्यक्ति भगवानका अर्चन करते हैं, भगवान भी नित्यकाल उनका अर्चन करते हैं।

विष्णु-धर्ममें कहा गया है—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥

भक्तवत्सल भगवान एक तुलसीदल अथवा एक गण्डुष जलद्वारा पूजित होने पर भी भक्तके निकट आत्म-विक्रय किया करते हैं।

यहाँ विशेष रूपसे यह जानना है कि ऐसा भगवद्भजन माहात्म्य सभी अजामिलादिके सम्बन्धमें प्रसिद्ध होनेके कारण ये केवल प्रशंसामात्र नहीं हैं। श्रीमद्लक्ष्मीधर-जी कृत नाम कौमुदी ग्रन्थमें इस विषयमें

बहुतसे प्रमाण दिखलाये गये हैं।

इस प्रकार नामके फल माहात्म्यके प्रति अर्थवाद कल्पना भी महान् अपराध है, पद्मपुराणमें नामापराध वर्णन प्रसंगमें 'हरिनाममें अर्थवाद' दस अपराधोंमें एक अपराध बतलाया गया है।

कात्यायन संहितामें कहा गया है—

मन्नामकीर्त्तनफलं विविधं निशम्य
न श्रद्दधाति मनुते यदुतार्थवादम्।
यो मानुषस्तमिह दुःखचये क्षिपामि
संसारघोर-विविधार्त्ति-निपीडितांगम् ॥

जो व्यक्ति मेरे नाना प्रकारके नामोंकी कीर्त्तनफल सुनकर उसमें विश्वास न कर अर्थवाद करें, उस पापीको मैं संसारमें नाना तरहके क्लेशकर दुःखोंमें निक्षेप करता हूँ।

इसी कारणसे श्रीभगवन्नाम-कीर्त्तन सेवन उद्देश्ययुक्त दूसरे दूसरे भजनांग सभीमें भी अर्थवाद कल्पना करने पर महान् दोष होता है, यह जानना होगा। इसलिए भगवद्भजन विषयमें यथार्थ माहात्म्य रहने पर भी जिस-जिस स्थानमें वर्त्तमानकालमें भगवद्भजन-फलप्राप्ति दिखलायी गई है एवं किसी किसी स्थानमें प्राचीन व्यक्तिकी भी बहुत समय तक भजन करने पर भी विफलता देखी जाती है, उस उस स्थानमें श्रीनामके फल-माहात्म्यमें अर्थवाद कल्पना एवं वैष्णवों के प्रति अश्रद्धा आदि दुरन्त अपराध-समूहको ही भजनफलके प्रतिबन्धकका कारण जानना होगा।

इसलिए शौनकजी कहते हैं—

तदश्मसारं हृदयं बतेदं
यद्गृह्यमानैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदा विकारो
नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥
(भा० २।३।२४)

श्रीहरिनामकीर्त्तन-चेष्टा रहने पर भी जिनका हृदय शुद्ध सात्त्विक विकारसे विकृत नहीं होता, उनका हृदय पत्थरकी तरह कठिन है। क्योंकि जिस मुक्त पुरुषके हृदयमें सात्त्विक विकारका उदय होता है, उनके नेत्रोंमें आँसू एवं सभी रोमकूपोंमें हर्षोद्गम या आनन्द पुलक का उदय होता है।

पद्म-पुराणमें नामापराध-भंजन प्रसंगमें कहा गया है—

नामैकं यस्य वाचि स्मरण-
पथगतं श्रोत्रमूलं गतं वा।
शुद्धं वाशुद्धवर्णं व्यवहित-
रहितं तारयत्येव सत्यम् ॥
तच्चेद्देहद्रविण-जनता
लोभ-पाषण्ड मध्ये
निक्षिप्तं स्यान्नफल-
जनकं शीघ्रमेवात्र विप्र ॥

एक ही श्रीनाम, शुद्धवर्ण या अशुद्धवर्ण ही क्यों न हो, व्यवधान (बाधा) रहित होकर जिनके वाक्यमें, स्मरण-पथमें या कर्ण-पथमें उपस्थित हों, तो निश्चय ही उनका

परित्राण करते हैं। किन्तु यदि ये नाम देह, अर्थ, जनता, लोभ एवं पाषण्डतामें प्रयोग किये, तो वे नाम कदापि शीघ्र फलप्रद नहीं होते अर्थात् देहादि लोभके उद्देश्यसे गुरुकी अवज्ञा आदि दस अपराधयुक्त पाषण्डियोंद्वारा उच्चारण किये गये नामका कीर्त्तन-फल मिलना कठिन है।

स्कन्द-पुराणमें द्वारका-माहात्म्यमें कहा गया है—

पूजितो भगवान् विष्णुर्जन्मान्तरशतैरपि ॥
प्रसीदति न विश्वात्मा वैष्णवे चावमानिते ॥

भगवान विष्णु शत शत जन्ममें पूजित होने पर भी वैष्णवापराधकारीके प्रति प्रसन्न नहीं होते।

फिरसे मार्कण्डेय-भगीरथ-संवादमें कहा गया है—

दृष्ट्वा भागवतं दूरात् सम्मुखे नोपयाति हि।
न गृह्णाति हरिस्तस्य पूजां द्वादशवार्षिकीम् ॥
दृष्ट्वा भागवतं विप्रं नमस्कारेण नार्चयेत्।
देहिनस्तस्य पापस्य न च वै क्षमते हरिः ॥

जो व्यक्ति दूरसे भगवद्भक्त वैष्णवका दर्शन कर उनके निकट अभिगमन नहीं करता, भगवान् उसकी बारह-वर्ष व्यापी पूजा भी ग्रहण नहीं करते। जो व्यक्ति भगवद्भक्तको नमस्कार नहीं करते, भगवान् उस कुदेहधारीका पाप कदापि क्षमा नहीं करते।

विष्णु-पुराणमें भी कहा गया है कि शतधनु राजा भगवान्‌की आराधनामें तत्पर रहनेपर भी वेद-वैष्णव-निन्दकके साथ क्षणकालके संभाषण-दोषसे कुत्ते आदि योनिको प्राप्त हुआ। अतएव कहा गया है—

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥
(भा० १।२।१६)

हे ब्राह्मणों! पुण्यतीर्थ श्रीगुरु-वैष्णव या तीर्थके अत्यन्त सेवन-फलसे एवं महाजनों की सेवाके प्रभावसे अप्राकृत श्रद्धावान् और हरिकथा सुननेवाले व्यक्तिकी भगवान् वासुदेवकी कथामें रुचि होती है। इस श्लोकमें एवं वेदान्तके 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' अर्थात् सात्वत शास्त्रोंके बार-बार उपदेशके कारण भगवन्नामका बहुत बार आवृत्ति ही विहित है। इस सूत्रके अनुसार मनुष्य लोग प्रायः ही अपराधयुक्त होनेके कारण असंख्य बार भगन्नामकी आवृत्तिका विधान है। अपराधयुक्त व्यक्तियोंके लिए भगवन्नामकी बार-बार आवृत्तिकी प्रयोजनीयता पद्म-पुराण में नामापराधभंजन-प्रसंगमें श्रीनाम-माहात्म्य वर्णनोपलक्षमें कही गई है—

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।
अविश्रान्तिप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च ॥

नामापराधयुक्त व्यक्तिके अपराध का शुद्धनाम ही विनाश करते हैं एवं अविश्रान्त नाम-कीर्त्तन ही अभीष्ट साधक हैं।

त्रैलोक्य-सम्मोहन तन्त्रमें अष्टादशाक्षरादि मन्त्रकी ही आवृत्ति का विधान है—

इदानीं शृणु देवि त्वं केवलस्य मनोर्विधिम् ।
दशकृत्वो जपेन्मंत्रमापत्कल्पेन मुच्यते ॥
सहस्रजप्तेन तथामुच्यते महतैनसा ।
अयुतस्य जपेनैव महापातकनाशनम् ॥

हे देवि ! इस समय अद्वितीय मनु (मंत्र) का विधान श्रवण करो। दस बार मंत्र-जपके फलसे आपत्तिसे मुक्त हुआ जा सकता है,हजार बार जप करनेसे महापापसे मुक्ति एवं दस हजार बार जप करनेसे महापातक का विनाश होता है।

हनन् ब्राह्मणमत्यन्तं कामतो वा सुरां पिबन् ।
कृष्ण कृष्णेत्यहोरात्रं संकीर्त्य शुचितामियात् ॥
(ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण)

ब्राह्मणकी पूर्ण रूपसे हत्या करने पर या इच्छापूर्वक सुरापान करने पर भी दिनरात "कृष्ण कृष्ण" करनेपर मनुष्य शुद्धता प्राप्त करता है।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

×—×

प्रचार-प्रसंग

श्रीअद्वैत-सप्तमी एवं श्रीनित्यानन्द त्रयोदशीका अनुष्ठान

गत २७ माघ, १० फरवरी, शनिवारको श्रीमहाविष्णुके अवतार श्रीश्रीलअद्वैताचार्य प्रभुकी आविर्भाव-तिथि एवं ३ फाल्गुन, १५ फरवरी, बृहस्पतिवारको स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके प्रकाशविग्रह श्रीबलदेवाभिन्न श्रीश्रीलनित्यानन्द प्रभुकी आविर्भाव-तिथि समितिके सभी मठोंमें उपवास, पाठ, कीर्त्तन प्रवचनके माध्यमसे मनाई गई हैं। उक्त दोनों दिवस सवेरे एवं शामको श्रीश्रीलअद्वैताचार्य प्रभु एवं श्रीश्रीलनित्यानन्द प्रभुके सम्बन्धमें महाजन रचित पदावलियोंका कीर्त्तन किया गया तथा उनकी भगवत्ता पर प्रकाश डालते हुए उनके त्रिलोक कल्याणकारी चरित्रकी सदालोचना की गई।

श्रीश्रीव्यासपूजा-महोत्सव

गत ३ गोविन्द, ८ फाल्गुन, २० फरवरी, मंगलवार, माघी कृष्णा तृतीयासे प्रारम्भ कर ५ गोविन्द, १० फाल्गुन, २२ फरवरी, बृहस्पतिवार, माघी कृष्णा पंचमी तक श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके मूल मठ एवं सभी शाखा मठोंमें श्रीश्रीव्यास-पूजाका महदनुष्ठान एवं

महोत्सव बड़े समारोहपूर्वक मनाया गया है।

श्रीकेशवजी गौड़ीय मथुरामें यह उत्सव प्रति वर्षकी भाँति उत्साहपूर्वक मनाया गया है। पहले दिन परमाराध्यतम श्रीश्रीलगुरुपादपद्म नित्यलीलाप्रविष्ट ॐविष्णुपाद १०८ श्रीश्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी शुभाविर्भाव-तिथिमें प्रातःकाल श्रीमंगलारति, श्रीगुरु-महिमा सूचक पदावली-कीर्त्तन आदि के पश्चात् परमाराध्यतम श्रीश्रीलगुरुपादपद्म की अलौकिक जीवनी एवं अतिमर्त्य चरित्रपर प्रकाश डाला गया। दोपहरको सभी गुरुसेवकों ने परमाराध्यतम श्रीश्रीलगुरुपादपद्मोंमें पुष्पांजलि प्रदान कीं। शामको आयोजित सभामें सभी गुरुसेवकोंने परमाराध्यतम श्रीश्रीलगुरुपादपद्मके सम्बन्धमें अपने भावपूर्ण हृदयोद्गार प्रकट किये। दूसरे दिन श्रीगुरुतत्व की विशद आलोचना की गई। तीसरे दिन परमाराध्यतम जगद्गुरु नित्यलीलाप्रविष्ट ॐविष्णुपाद १०८ श्रीश्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुरकी आविर्भाव-तिथिपर उक्त महापुरुषका अतिमर्त्य चरित्र, अप्राकृत शिक्षा, उनका वर्त्तमान जगत्को दिया गया अपूर्व दान, असामान्य व्यक्तित्व आदि पर प्रकाश डाला गया। दोपहरको सभी गुरुसेवकोंने परमाराध्यतम श्रीश्रील प्रभुपादजीके पादपद्मोंमें पुष्पांजलि अर्पित कीं। शामको आयोजित सभा में सभी गुरुसेवकोंने परमाराध्यतम श्रीश्रील प्रभुपादजीके सम्बन्धमें अपने हृदयकी भावनाएँ एवं तीव्र श्रद्धा ज्ञापन की।

श्रीसमितिके मूल मठ, श्रीदेवानंद गौड़ीय मठ, नवद्वीपमें यह उत्सव समितिके वर्त्तमान सभापति-आचार्य परम पूजनीय त्रिदंडिस्वामी श्रीश्रीमद् भक्तिवेदान्त वामन महाराजकी अध्यक्षता एवं समितिके उप-सभापति एवं संयुक्त सम्पादक परम पूजनीय त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद् भक्तिवेदान्त नारायण महाराजकी परिचालनामें यह उत्सव विराट् समारोह एवं धूमधामके साथ सम्पन्न हुआ है।

अधिक क्या, इस अवसरमें श्रीगुरुतत्वकी अपूर्व महिमा, परमार्थ राज्यमें इसकी परम प्रयोजनीयता तथा श्रीव्यासतत्वकी आलोचना करते हुए श्रीकृष्णद्वैपायन वेदव्यासका जगत् को अतुलनीय दान, उनकी पारमार्थिक शिक्षा, ग्रन्थादियों की अपौरुषेयता एवं उनके ऐकान्तिक आनुगत्यकी आवश्यकता आदि पर विशेष प्रकाश डाला गया।

—निजस्व संवाददाता

स्वाधीनता

वर्त्तमान समयमें सभी स्वाधीनता चाहते हैं। अपनी स्वाधीनताके लिए सभी संघर्ष कर रहे हैं। किन्तु यथार्थमें स्वाधीनता क्या है, वह किस प्रकार प्राप्त हो सकती है, इसका अनुसन्धान सभी नहीं करते। स्वाधीनताके नाम पर संसारमें वर्त्तमान समय में जो उत्पातऔर महान् उपद्रव चल रहे हैं, वे यथार्थ स्वाधीनताके द्योतक नहीं, चरम पराधीनताके प्रतीक हैं।

केवल सभी प्रकारके कर्म करनेके लिए एवं अपनी इच्छानुसार भोजन-पान-रहन-सहनके लिए छूट मिल जानेसे अथवा पर्याप्त मात्रामें जागतिक सुख-भोग, खान-पान, अपनी मनोवांछित जागतिक वस्तुएँ प्राप्त करनेसे ही यह मानना होगा कि पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई? नहीं, यह तो केवल स्वतन्त्रताका आभास या कल्पना मात्र है। वास्तविक स्वाधीनता इससे विलक्षण एवं अनन्त गुणोंमें श्रेष्ठ है।

स्वाधीनताके नाम पर यथेच्छाचारिता, दुर्गुण, अत्याचार, व्यसन-परायणता, आदि दोषोंको स्थान देनेसे ही स्वाधीनता नहीं मिल जायगी। यथार्थ स्वाधीनता प्राप्त करनेके लिए कार्यात्मक रूपसे साधना करनेकी आवश्यकता है।

जीव मात्र ही भगवान का नित्य सेवक है। पूर्ण सच्चिदानन्द वस्तु भगवानका विभिन्नांश होनेके कारण जीवमें भी आनन्द पानेकी इच्छा एवं योग्यता है। परम कृपालु भगवानने जीवको स्वाधीनतारूपी अमूल्य निधि प्रदान की है। स्वाधीनताका उपयोग करनेके लिए जीव स्वतन्त्र है। यदि जीव इसका सदुपयोग करें, तो वह अपने परम प्रभु एवं परम प्रेमास्पद भगवानका सान्निध्य पाकर उनकी नित्य प्रेमसेवा प्राप्त कर असीम आनन्द एवं चिर शान्तिका पूर्ण अधिकारी बन सकता है। किन्तु उसका दुरुपयोग करनेपर जड़ माया उसे धर दबाती है एवं अपने जालमें फँसाकर उसे संसारमें डाल देती है एवं नाना प्रकारसे यातनाएँ प्रदान करती है। उस समय जीव मायाका लोभनीय रूप देखकर उससे मोहित होकर असत् विषयोंको भोग करनेके लिए व्यतिव्यस्त हो पड़ता है। उस समय वह असत्यको सत्य माननेका भ्रम कर बैठता है। चौरासी लाख ऊँच-नीच योनियोंमें भ्रमण करता हुआ असीम क्लेश प्राप्त करता है। मायाके वशीभूत होकर जीव स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरमें 'मैं और मेरी' बुद्धि कर बैठता है एवं उसका बहुमानन करते हुए अपने यथार्थ आत्मिक सुखकी अवहेलना कर पूर्णतम आनन्द एवं चिर शान्तिसे वंचित होता है। जीव काम--क्रोधादि षट्--रिपुओंके अधीन हो पड़ता है एवं अपनी यथार्थ परिस्थितिको जान नहीं पाता।

केवल स्थूल रूपसे दूसरे मनुष्योंकी या वर्गविशेषके शासनसे मुक्त होनेसे ही पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो गई, कहा नहीं जा सकता। यथार्थ स्वाधीनता हमें तभी मिल सकती है जब हम स्थूल-सूक्ष्म अभिनिवेशका त्याग कर अपने यथार्थ स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो सकेंगे। जब तक जीव मायाके अधीन है एवं भगवानसे

उसका सम्बन्ध नहीं होता, तब तक वह पूर्ण स्वाधीन कहलाया नहीं जा सकता। निष्कपट होकर हरिभजन करनेसे ही यह संभवपर है।

मनुष्य चाहें इस भौतिक संसारकी जितनी भी उन्नति करें, बड़े बड़ेसे काम कर डालें, किन्तु बिना भगवानको जाने या अपने नित्य स्वरूपकी उपलब्धि किए वह पूर्ण स्वतन्त्र नहीं हो सकता। यह भौतिक संसार हरिविमुख बद्ध-जीवोंका संशोधन करनेके लिए कारागार स्वरूप है। अतएव इस भूमिकामें किसी भी अवस्थामें पूर्ण स्वतन्त्रता पायी नहीं जा सकती। एक और बात यह भी है कि जीवकी यह स्वतन्त्रता भगवानकी इच्छाके अधीन है। जीव कर्म करनेके लिए स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगनेके लिए ईश्वरके अधीन है।

वर्त्तमान समयमें धर्मकी जो उपेक्षा की जा रही है, उससे हमारी स्वतन्त्रता संकुचित एवं विकृत हो गयी है। धर्मकी उपेक्षा किए जाने पर बाहरी स्वतन्त्रता का कोई भी मूल्य रह नहीं जाता। हम वर्त्तमान समयमें जिसे स्वतन्त्रता समझ रहे हैं, वह क्षणिक, कल्पित एवं विनाशशील है। मुक्त अवस्थामें भी जीव सम्पूर्ण रूपसे स्वतन्त्र नहीं हो सकता। तब वहाँ उसे जिस रूपमें स्वतन्त्रता प्राप्त है, वह यथार्थ, अखण्ड एवं शाश्वत है। वहाँ तो प्रेमकी अधीनता है। जड़ माया जीवके लिए विजातीय वस्तु है। भगवान ही उसके सजातीय बन्धु हैं। अतएव अपने पूर्णतम अंश स्वरूप एवं परम प्रेमके विषय भगवानसे अपना नित्य सम्बन्ध जानने पर ही जीव ठीक ठीक रूपमें स्वतन्त्र या स्वाधीन हो सकता है, अन्यथा नहीं।

—त्रिदण्डिभिक्षु भक्तिवेदान्त पद्मनाभ

श्रीभागवत-पत्रिकाके सम्बन्धमें विवरण

(१) **प्रकाशनका स्थान**—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा।

(२) **प्रकाशनकी अवधि**—मासिक।

(३) **मुद्रकका नाम**—श्री हर्षगुप्त।
राष्ट्रगत सम्बन्ध—हिन्दू (भारतीय)।
पता—राष्ट्रीय प्रेस, डैम्पियर नगर, मथुरा।

(४) **प्रकाशक का नाम**—श्रीकुञ्जबिहारी ब्रह्मचारी।
राष्ट्रगत सम्बन्ध—हिन्दू (गौड़ीय वैष्णव)।
पता—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा।

(५) **सम्पादकका नाम**—त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज।
राष्ट्रगत सम्बन्ध—हिन्दू (गौड़ीय वैष्णव)।
पता—श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा।

(६) **पत्रिकाका स्वत्वाधिकारी**—श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिकी तरफसे उनके वर्त्तमान सभापति-आचार्य और नियामक त्रिदण्डिस्वामी श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराज।

मैं, कुञ्जबिहारी ब्रह्मचारी, इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारीमें और विश्वासके अनुसार सत्य हैं।

१४ मार्च १९७३

कुंजबिहारी ब्रह्मचारी